

# उषा प्रियंवदा का कथा साहित्य और स्त्री मनोविज्ञान

हुसैनी बोहरा

सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग, भूपाल नोबल्स विश्वविद्यालय, उदयपुर, भारत 313001

Email: hussaini.bohara@gmail.com

Received May 31, 2017; Revised July 7, 2017; Accepted July 20, 2017

## सार

मनोविज्ञान सामान्य स्वस्थ व्यक्ति का अध्ययन करता है, वह केवल शारीरिक अध्ययन न करके मनुष्य के आन्तरिक भावों, विचारों के द्वन्द्व आदि का अध्ययन करता है। आधुनिक युग में मनोविज्ञान की उपादेयता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। मनोविज्ञान आज के उपन्यास के लिए अत्यावश्यक तत्त्व हो गया है। उपन्यास में कई ऐसे मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का सहज समावेश हो गया है कि हम उनको मनोविज्ञान से पृथक् नहीं कर सकते।

उपन्यास एक ऐसी विधा है जो कि जीवन मूल्यों की अभिव्यक्ति के लिए वृहत्तर फलक प्रस्तुत करता है। मानव जीवन के सभी रहस्यों को पूर्णता के साथ प्रस्तुत करता है। आज की महिलाओं का उपन्यास लेखन जिस मुकाम पर है, वह गुणवत्ता और परिणाम

दोनों ही दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। हिन्दी कथा यात्रा में उषा प्रियंवदा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने अपने उपन्यासों में महानगरीय जीवन के संत्रास और आधुनिक जीवन शैली से उत्पन्न समस्याओं को अपनी पैनी नजर से देखा-परखा है। उनके कथा साहित्य में स्त्री की मनोवैज्ञानिक संवेदनाओं को पूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान की गई है।

उषा प्रियंवदा ने मूल रूप से भारतीय एवं पढ़ी-लिखी महिलाओं की समाज में स्थिति को रेखांकित करने का प्रयास किया है। कामकाजी अविवाहित स्त्री के सामाजिक परिवेश और व्यक्तिगत आकांक्षाओं के बीच जटिल अंतःसंबंधों की मनोवैज्ञानिक स्तर पर सूक्ष्म जांच-पड़ताल और सामाजिक स्तर पर बेहतर विकल्प की खोज में "पचपन खम्भे लाल दीवारें" उपन्यास संघर्ष की पहली महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति है। शादी के सवाल पर अपनी एक सहेली से सुषमा कहती

हैं- आप भी क्या यही मानती हैं, कि विवाह होना चाहिए? मेरे पास तो सभी कुछ है, आर्थिक रूप से स्वतंत्र हूँ, जो चाहूँ कर सकने में समर्थ हूँ। समग्रतः उषा प्रियंवदा के कथा साहित्य में मूलतः आधुनिक और शिक्षित नारियों के अन्तर्द्वंद्व को अभिव्यक्ति दी गयी है। नारियों की दोगम स्थिति एवं अति महत्वकांक्षाओं ने मनोवैज्ञानिक रूप से प्रभावित किया है।

**संकेतशब्द** आधुनिक, मनोविज्ञान, उपन्यास, स्त्री, उषा प्रियंवदा

## 1. प्रस्तावना

मनोविज्ञान सामान्य स्वस्थ व्यक्ति का अध्ययन करता है वह केवल शारीरिक अध्ययन न करके मनुष्य के आन्तरिक भावों, विचारों के द्वन्द्व आदि का अध्ययन करता है। आधुनिक युग का कोई भी उपन्यास या कहें कोई भी रचना बिना मनोविज्ञान के संस्पर्श के अधूरी कही जाती है। उपन्यास के विषय में देखा जाए तो जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द जोशी, मन्नू भण्डारी, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव आदि मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं।

आधुनिक युग में मनोविज्ञान की उपादेयता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। मनोविज्ञान आज के उपन्यास के लिए अत्यावश्यक तत्त्व हो गया है। उपन्यास में कई ऐसे मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का सहज समावेश हो गया है कि हम उनको मनोविज्ञान से पृथक्

नहीं कर सकते। जाने अनजाने मनोविज्ञान उपन्यास पर बहुत हावी हो गया है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की कुछ विशिष्टताएं होती हैं, जो सामान्य उपन्यासों में नहीं देखी जा सकती हैं। मनोविज्ञान का स्पर्श पाते ही उपन्यासों के पात्रों का आन्तरिक जीवन अलग तरह का हो जाता है। यह सत्य है कि सामान्य उपन्यासों के पात्र सरल प्रवृत्ति के होंगे और मनोवैज्ञानिक उपन्यास के पात्र संश्लिष्ट प्रवृत्ति के अर्थात् अन्तर्जीवी और विश्लेषण को अधिक करने वाले होंगे। मनोवैज्ञानिक उपन्यास के पात्रों की चिन्तन शृंखला ही अलग तरह की होगी।

हमारे समाज के कुछ निश्चित नियम हैं, निश्चित आदर्श हैं, निश्चित कल्पनाएं हैं और ये आदर्श अनुकरणीय होते हुए भी प्रायः दुनिया द्वारा टुकराए जाते हैं। फिर भी समाज की इच्छा रहती है कि व्यक्ति इन आदर्शों को माने तथा इन आदर्शों का अनुकरण करे। प्रायः समाज में इन आदर्शों का सामान्य व्यक्ति पालन तो कम करता है और बताता बहुत ही अधिक है।

मनोविज्ञान की खोज से लेखकों का साहस भी बढ़ा है और पाठकों का भी। जिन बातों को लिखने में पहले-पहले असहज होना पड़ता था और पढ़ने में संकोच होता था, वे बातें अब स्पष्ट रूप से लिखी जाने लगी हैं और स्वाभिमान के साथ पढ़ी भी जाने लगी हैं। व्यक्ति यदि अच्छा है तो उसे भीतर से भी अच्छा होना पड़ेगा। अन्यथा मनोविज्ञान के इस युग में पाखण्ड अब

नहीं चल सकता। यह बात मनोवैज्ञानिक उपन्यासों ने प्रमाणित कर दी है।

उपन्यासों में मनोविज्ञान की उपादेयता स्वतः स्पष्ट है। मनोविज्ञान के आगमन से उपन्यासों में पात्रों के आन्तरिक जीवन की मार्मिक झलक पाठकों को मिलती है और यथार्थ मन के कई अनछुए पहलुओं का ज्ञान भी। ऐसे उपन्यास पाठकीय दृष्टि से अधिक सरस ज्ञानवर्धक प्रतीत होते हैं। मनोवैज्ञानिकता आधुनिक युग की मांग है। साथ ही इसके आगमन से उपन्यासों में शैलीगत अन्तर भी आया है। आज उपन्यास छोटे आकार के होने लगे हैं। इसके बाद भी उपन्यासों की कथा की वक्रगति पाठक के मन को अधिक बांधती है।

यह सर्वविदित है कि साहित्य में जीवन का समग्र चित्रांकन होता है या कहें साहित्य जीवन का गतिशील चित्र है तो इसमें अतिशयोक्ति नहीं होगी। साहित्य के माध्यम से जीवन को ही अभिव्यक्त किया जाता है। इतना अवश्य है कि किसी भी विधा में अभिव्यक्ति के अवसर समान नहीं होते हैं। प्रत्येक विधा की अपनी सीमाएं होती हैं। अतः इस पृष्ठभूमि में उपन्यास में जीवन की अभिव्यक्ति के अधिक अवसर उपलब्ध होते हैं। हिन्दी में ही नहीं विश्व की सभी भाषाओं के उपन्यास प्रत्यक्षतः यह सिद्ध करते हैं कि उनमें उस परिवेश की, जीवन की तस्वीर है।

## 2. समकालीन महिला उपन्यासकार

उपन्यास एक ऐसी विधा है जो कि जीवन मूल्यों की अभिव्यक्ति के लिए वृहत्तर फलक प्रस्तुत करता है।

मानव जीवन के सभी रहस्यों को पूर्णता के साथ प्रस्तुत करता है। इसलिए प्रेमचन्द ने उपन्यासों को मानव जीवन का चित्र माना है। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उनके रहस्यों को खोलना उपन्यास के मूलतत्त्व में स्वीकार है। राल्फ फास्क ने उपन्यास को मानव जीवन का गद्य माना है और कहा कि यह प्रथम गद्य रूप है जो मानव को समग्रता से समझने तथा अभिव्यक्त करने की चेष्टा करता है।

धर्मवीर भारती के शब्दों में कविता और नाटक दोनों की अपेक्षा मानव जीवन के चित्रण के लिए उपन्यास का क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत है। गीतिकाव्य के पूंजीभूत भाव सत्य दुखान्त नाटकों के चिरन्तर संघर्ष और करुणा गीति कथाओं की गति और प्रवाहमयता मुक्तकों का वैशिष्ट्य और नीति सत्य इन सभी पुराने रूपों की शिल्पगत और वस्तुगत विशेषताओं को उपन्यास ने व्यापक प्रसार में ग्रहण किया था।

समकालीन महिला उपन्यासकारों का जो वर्ग हिन्दी साहित्य के परिदृश्य पर उभरा है, उन्होंने काफी संजीदगी से स्त्रियों की विभिन्न भूमिकाओं, पक्षों और रूपों को अपने लेखन में उद्घाटित किया है। इन महिला उपन्यासकारों पर अक्सर यह आरोप भी लगाए जाते रहे हैं कि इनके लेखन का दायरा सीमित, संकीर्ण और काफी हद तक घरेलू है। यहां इस सच्चाई से इनकार नहीं किया जा सकता है कि एक लंबे अरसे से पितृसत्तात्मक समाज का शोषण और दबाव झेलने के

बाद पहली स्वाभाविक प्रतिक्रिया इस शोषण से मुक्ति का प्रयास और इसके खिलाफ मोर्चाबन्दी ही है।

आज की महिलाओं का उपन्यास लेखन जिस मुकाम पर है, वह गुणवत्ता और परिणाम दोनों ही दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। उपन्यास लेखन की परम्परागत लीक पर चलकर और लीक से हटकर दोनों ही प्रयोग में महिला उपन्यासकारों ने अपनी बहुमुखी चेतना और शैली का परिचय दिया है [1]।

हिन्दी उपन्यास के विकास में महिला कथाकारों का विशिष्ट स्थान रहा है। हिन्दी में महिला कथाकारों की समृद्ध परम्परा रही है। सातवें-आठवें दशक में महिला कथाकारों की एक शृंखला-सी दृष्टिगत होती है। ममता कालिया, उषा प्रियंवदा, मैत्रिय पुष्पा, शशिप्रभा शास्त्री आदि प्रमुख उपन्यासकार हैं।

### 3. मनोविज्ञान और साहित्य

मनोविज्ञान को साहित्य में समाहित करने पर साहित्य ऐकान्तिक व वैयक्तिक बनने लग गया। पुराने नैतिक मूल्यों की नींव डगमगाने लगी, उनकी पहचान पर प्रश्नचिह्न लग गया।

“हिन्दी की महिला उपन्यासकारों के पास अनुभूतिशील हृदय है, जो उनकी रचना सृष्टि को गहन संवेदना से भर देता है। आज सामाजिक विसंगतियों ने जिस टूटन और अंतर्संघर्ष को जन्म दिया है, उसकी मनोवैज्ञानिक पड़ताल करने में महिला उपन्यासकार सफल रही हैं। महिला उपन्यासकारों ने सचमुच

उपन्यासों में एक ऐसी दुनिया कायम की है जो शिल्प और संवेदना के स्तर पर उपन्यासों की पारंपरिक दुनिया से अलग ठहरती है। मौजूदा त्रासद (स्त्री विरोधी) परिवेश के दबाव से एक नयी शैली विकसित हुई है। समाज में स्त्रियों की स्थिति, पीड़ा, यंत्रणा, विद्रोह, संघर्ष, समझौता आदि मनोभावों से स्त्रियों का वास्तविक संसार भी भरा पड़ा है और औपन्यासिक संसार भी [2]।

संप्रति हमारे समाज में स्त्री-पुरुष के परंपरागत संबंधों में काफी बदलाव आया है। इस बदलाव से सामाजिक सांस्कृतिक और नैतिक मूल्य भी बदले हैं। स्त्रियों में शिक्षा एवं आत्मनिर्भरता बढ़ने से स्वतंत्र चेतना का विकास हुआ है और पारंपरिक मूल्य के प्रति विद्रोह की प्रवृत्ति भी काफी बढ़ी है।

बदलते दौर में स्त्री अपने को नए सिरे से तलाश रही है। अतः महिला उपन्यासकारों द्वारा अस्मिता की नई पहचान स्थापित करने और करवाने की मांग को लेकर कई महत्वपूर्ण उपन्यास लिखे गए। इन महिला उपन्यासकारों ने घटित तथ्यों को ही नहीं आकांक्षित तथ्यों को भी औपन्यासिक विन्यास दिया [3]।

### 4. कथाकार उषा प्रियंवदा

हिन्दी कथा यात्रा में उषा प्रियंवदा का महत्वपूर्ण स्थान है। उषा प्रियंवदा ने अपने उपन्यासों में महानगरीय जीवन के संत्रास और आधुनिक जीवन शैली से उत्पन्न समस्याओं को अपनी पैनी नजर से देखा-परखा है।

आज का युगीन यथार्थ भी यही है कि ज्यों-ज्यों आदमी की भौतिक सुख सुविधाएं बढ़ रही हैं, उसकी मानसिक शांति छिनती जा रही है। आधुनिक समय की यही उदासी, ऊब, अकेलापन और घुटन संवेदनशील कथा लेखिका उषा प्रियंवदा के उपन्यासों में भावप्रवण शैली में व्यक्त हुई है [4]।

## 5. उषा प्रियंवदा के कथासाहित्य में स्त्री मनोविज्ञान

उषा प्रियंवदा के कथा साहित्य में स्त्री की मनोवैज्ञानिक संवेदनाओं को पूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। उषा प्रियंवदा ने मूल रूप से भारतीय एवं पढ़ी-लिखी महिलाओं की समाज में स्थिति को रेखांकित करने का प्रयास किया है। उषा प्रियंवदा ने बताया है कि स्त्री की सामाजिक विवशता व अति महत्त्वकांक्षा ने भी स्त्री को दोराहे पर खड़े होने को विवश किया है। उसमें निर्णय क्षमता का अभाव भी परिलक्षित होता है। यदि वह निर्णय भी ले लेती है तो अपने निर्णय पर अडिग रहना परिस्थितियोंवश संभव नहीं हो पाता है।

## 6. पचपन खंभे लाल दीवारें

पचपन खंभे लाल दीवारें में एक ऐसी सुशिक्षित और आत्मनिर्भर स्त्री की मार्मिक व्यथा-कथा है, जो पारिवारिक और आर्थिक कारणों से विवाह नहीं कर पाती है और अन्ततः अविवाहित रहने का निर्णय लेती है। आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर सुषमा उम्र 33 साल

पारिवारिक दायित्व में इस प्रकार जकड़ी है कि इससे निकल ही नहीं पाती है। कमाऊ बेटी होने की वजह से उसके माता-पिता ने भी कभी उसकी शादी के लिए अपेक्षित प्रयास नहीं किया। दरअसल सुषमा के कारण परिवार में जो आर्थिक समीकरण बने थे, शादी के बाद वे स्वाभाविक रूप से बिगड़ जाते हैं।

कामकाजी अविवाहित स्त्री के सामाजिक परिवेश और व्यक्तिगत आकांक्षाओं के बीच जटिल अंतःसंबंधों की मनोवैज्ञानिक स्तर पर सूक्ष्म जांच-पड़ताल और सामाजिक स्तर पर बेहतर विकल्प की खोज में यह उपन्यास संघर्ष की पहली महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति है। शादी के सवाल पर अपनी एक सहेली से सुषमा कहती है- आप भी क्या यही मानती हैं, कि विवाह होना चाहिए? मेरे पास तो सभी कुछ है, आर्थिक रूप से स्वतंत्र हूं, जो चाहूं कर सकने में समर्थ हूं [5]।

सुषमा वाकई कुछ भी करने में स्वतंत्र है? विवाह न होने (हो पाने) की स्थितियों पर सोचते हुए उसके अन्दर एक कड़वापन भर जाता है। सुषमा का फैसला अपना कहां है? उसने तो दायित्वों से अपने को पूरी तरह ढक लिया है। इस रास्ते पर चलना सुषमा ने खुद स्वीकार किया था। इसके बाद भी हर समय उसके मन में एक असंतोष पैदा होता है। वह नील से कहती है- मेरी जिन्दगी खत्म हो चुकी है। मैं केवल साधन हूं। मेरी भावना को कोई स्थान नहीं। मैंने अपने को ऐसी

जिन्दगी के लिए ढाल लिया है। तुम चले जाओगे तो मैं फिर अपने को उन्हीं प्राचीरों में बन्दी कर लूंगी [6]।

सुषमा के जीवन में नील नामक एक पुरुष भी आता है, जिसके सान्निध्य में उसे कुछ सुकून मिलता है, लेकिन यहां भी वह कोई निर्णय नहीं ले पाती है। सुषमा नील से प्रेम करती है, उसके साथ शारीरिक संबंध भी बनते हैं, इसके बावजूद वह इस संबंध को स्थायी नहीं बना पाती है। नील उम्र में सुषमा से छोटा है, इस बात को लेकर भी सुषमा के मन में एक पारंपरिक ग्रन्थि है कि यह विवाह सफल नहीं हो सकता और तन-मन से जुड़ने के बावजूद सुषमा नील से दूर हो जाती है। सुषमा अगर चाहती तो नील के साथ जीवन में कुछ रंग भर सकती थी, अपने एकाकीपन को दूर कर सकती थी, लेकिन किंकर्तव्यविमूढ़ सुषमा निर्णय नहीं ले पाती है। अंधेरे में भटकना ही उसकी नियति है।

सुषमा का यह फैसला परिस्थिति प्रसूत ज्यादा है और आत्मप्रसूत कम। भावना और कर्तव्य के बीच झूलती सुषमा अविवाहित रहने का निर्णय लेने के बाद भी कमजोर और हताश क्यों दिखती है ? और अगर नील को चाहती थी तो वह उसे अपना क्यों न लेती है? नील के बिना वह अपूर्ण अधूरी क्यों है? सच्चाई यह है कि उसके दिलो दिमाग में नील छाया हुआ है। नील को दूर रखकर भी वह उसी के ख्यालों में जीती है। उसकी हालत यह है कि क्लास रूम में लेक्चर के दौरान भी, वह सोचती है- नील के बगैर मैं कुछ भी नहीं हूँ, केवल

एक छाया, एक खोए हुए स्वर की प्रतिध्वनि, और अब ऐसी ही रहूंगी, मन की वीरानियों में भटकती हुई [7]।

भारतीय समाज में आज सैकड़ों ऐसी लड़कियां हैं जो आजीवन कुंआरी रहने को विवश हैं। विवाह योग्य उम्र में आर्थिक समस्याओं और दहेज की मांग के कारण योग्य वर नहीं मिलता और एक उम्र के बाद लड़कियां स्वयं कुंठाओं, मानसिक तनाव और हीन भावना की शिकार हो जाती हैं।

## 7. रुकोगी नहीं राधिका

उषा प्रियंवदा कृत एक अन्य महत्वपूर्ण उपन्यास "रुकोगी नहीं राधिका" है। इसमें एक ऐसी युवती की कहानी है, जो खुद में इस तरह उलझ गयी है कि जिन्दगी के हर मोड़ पर हताश और निरुपाय दिखती है। राधिका एक पढ़ी-लिखी और आधुनिक ख्यालों की लड़की है, लेकिन अचानक जब उसके विधुर पिता अपने से उम्र में लगभग बीस वर्ष छोटी विद्या से शादी कर लेते हैं तो राधिका विचलित हो जाती है। उसका अन्तर्मन घायल हो जाता है। और पिता के प्रति एक विरक्ति पैदा हो जाती है [8]।

यह जख्म राधिका के मन पर ताउम्र रिसता रहता है और पिता को कभी स्वस्थ मन से स्वीकार नहीं कर पाती है। वह घर छोड़कर अपने विदेशी मित्र डैन के साथ अमेरिका चली जाती है, लेकिन वहां भी सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाती है। डैन राधिका की मनोवृत्ति को समझता है कि उसका मानसिक विकास

एकांगी हुआ है। स्त्री पुरुष के संबंध के प्रतिनिरपेक्ष होने के कारण ही राधिका के मन में पिता के प्रति विकृति उत्पन्न हो जाती है। डैन उससे कहता है- मां के मरने के बाद तुम्हारा पिता के प्रति लगाव बहुत कुछ एब्नार्मल हो गया। यदि भारतीय परिवेश में तुम्हें प्रारम्भ से ही युवा मित्र बनाने की सुविधा होती तो ऐसा नहीं होता। तब तुम्हें प्रसन्नता होती कि तुम्हारे पिता ने जीवन में फिर सुख पाया।.....लेकिन तुमने अपने ही बनाए खुद के दुख के घेरे में अपने को बांध लिया है। सीमाओं से निकलो, दुनिया देखो, अपनी सम्भावनाओं को विकसित करो। किसी युवा पुरुष से. [9]

राधिका को युवा पुरुष अपरिपक्व लगते हैं, क्योंकि वह उनमें पिता की सी मानसिक प्रौढ़ता ढूंढती है। फाइन आर्ट्स में एम.ए. करने के बाद वह फिर स्वदेश आ जाती है। विदेश प्रवास का अनुभव उसके लिए कुछ ऐसा है- जैसे वह लम्बी, अंधकारमय, सर्द सुरंग में यात्रा कर रही हो, जहां लक्ष्य दिखता है, न उसका अन्त। स्वदेश लौटने पर राधिका अपने बिखरते टूटते व्यक्तित्व को संभालने के लिए पहले अक्षय फिर मनीष के करीब आती है। अचानक विद्या की मौत (आत्महत्या) उसे पापा से जुड़ने का एक ओर आखिरी मौका देती है, लेकिन राधिका अभी भी पिता को स्वीकार नहीं करती है, और मनीष के पास जाने का निर्णय लेती है। उसके पिता जब आखिरी बार साथ

का आग्रह करते हैं, तो राधिका कहती है- नहीं पापा मैं जाना चाहती हूं। मनीष .....मेरे बंधु.....।

राधिका के माध्यम से उषा प्रियंवदा ने एक आधुनिक लड़की का मानसिक अंतर्द्वंद्व दिखाया है, जो विमाता के सान्निध्य में पारिवारिक सामंजस्य नहीं बना पाती है। भारतीय परिवेश में अभी बच्चे एक उम्र सीमा के बाद विमाता या दूसरे पिता को स्वाभाविक रूप से स्वीकार नहीं कर पाते हैं। इस हालात में बच्चे तरह तरह की ग्रंथियों से पीड़ित होकर अपनी स्वाभाविकता भी गंवा बैठते हैं। लेकिन अंत में मनीष के साथ जाने का निर्णय लेकर एक रास्ता तो चुनती है, लेकिन पिता के प्रति उसकी निरपेक्षता एक सवाल बना रहता है [10]।

## 8. शेष यात्रा

उषा प्रियंवदा का तीसरा उपन्यास शेष यात्रा उनके सर्जनात्मक लेखक को एक नई दिशा देते हैं। इसे नारी जीवन की त्रासद स्थितियों का एक सबल दस्तावेज कहा जा सकता है। उपन्यास की नायिका अनु के माध्यम से एक साधारण लड़की की संघर्षगाथा की कलात्मक प्रस्तुति यहां हुई है। उच्च मध्यमवर्गीय प्रवासी भारतीय समाज को इस उपन्यास में उसके समस्त व्यामोहों और अन्तर्विरोधों के साथ उभारा गया है। अनु की शादी विदेश में रह रहे प्रणव से होती है। शुरु में अनु को लगता है कि जैसे वह किसी जादुई लोक में पहुंच गई है। सपनों की दुनिया में जीती अनु ने

कभी सपने में भी नहीं सोचा था कि प्रणव उससे दूर हो जाएगा, लेकिन अचानक जीवन की गाड़ी लड़खड़ाने लगती हैं, मासूम और निर्दोष अनु को जब पता लगता है कि प्रणव कहां और आसक्त है तो अनु विश्वास नहीं कर पाती है। शादी से पहले और शादी के बाद भी प्रणव का संबंध कई लड़कियों से रहा है यह जानने के बाद अनु को लगता है कि वह अपने प्रेम से प्रणव को जीत लेगी-पति -प्रेम एक ऐसी जादू की बूटी है जिससे सारी आधियां-व्याधियां दूर हो जाती हैं। अगर मनसा, वाचा, कर्मणा समर्पित रहूंगी तो सब कुछ ठीक हो जाएगा। मेरा प्रेम उन्हें जीत लेगा [11]।

अनु का यह विश्वास उस वक्त तार-तार हो जाता है, जब प्रणव अलग होने की घोषणा करता है और तलाक की अर्जी देता है। अनु रोती है, तड़पती है गिड़गिड़ाती है- मैं कुछ नहीं मांगूंगी। सच, मैं बिल्कुल दिक्कत दिए बिना रह लूंगी। मोटर, बंगला मुझे कुछ नहीं चाहिए। जो आप देंगे, वह सिर माथे पर। बस, आप मुझे अपने साथ रख लें, मुझे अलग न करें। कितने लोग यों ही निभाते आए हैं, मैं पैरों पड़ती हूँ [12]।

प्रणव फैसला ले लेता है, अलग रहने का, तभी तो कहता है- मैंने अपना रास्ता चुन लिया है, मैं चाहता हूँ कि तुम भी अपनी जिन्दगी अपने आप गढ़ो। अपने आप खेओ। प्रणव द्वारा अनु जिन्दगी के उस चैराहे पर छोड़ दी जाती है जहां वह बिल्कुल असहाय दिखती है। इस सदमे से उबरने में दिव्या अनु की सहायता करती

है। दिव्या अनु में आत्म विश्वास भरती है, नए सिरे से जीवन शुरू करने का संबल देती है [13]।

अनु को दिलासा देते हुए वह कहती है- अक्सर हम जिन्दगी के ऐसे ठिकाने पर आ खड़े होते हैं कि मालूम नहीं होता है किस तरफ मुड़ें। इधर भी जा सकते हैं, उधर भी। हर हालात में तुम्हें अपने को थोड़ा-सा तो बदलना होगा। तुम्हें अपने को कुछ ढालना ही होगा। अपनी जिंदगी यों गढ़नी होगी, कि अगर प्रणव आ जाए तो वाह वाह न आए तो भी...। हालात को काबू में लाती अनु धीरे-धीरे आत्मविश्वास सहेजती है। अपनी पढ़ाई शुरू करती है और डॉक्टर बन जाती है। इस नयी जिन्दगी में अनु दीपांकर के करीब होती है और अन्ततः दोनों की शादी हो जाती है। प्रणव से दूर होकर भी अनु एक जिन्दगी पाती है, लेकिन अनु से दूर होकर प्रणव जिन्दगी हार जाता है। शराब और औरत की दुनिया में प्रणव अपना सब कुछ गंवा बैठता है। अपने आखिरी दिनों में जब प्रणव अनु से मिलता है, तो प्रणव को देखकर अनु एक बार फिर विचलित हो जाती है। रोगी प्रणव का लुटा-पिटा चेहरा अनु को कमजोर बना देता है। लेकिन यहां अनु अपने को संभाल लेती है। उसे वह दिन याद आता है, जब बेवफा प्रणव ने अदालत में अनु को मानसिक रोगी बताकर तलाक लिया था- अपने को संभालते हुए खुद से अनु कहती है- अनु, ओ अनुका देवी, याद करो वह अपमान, वह अवमानना, जज के सामने का वह अर्द्ध सत्य, वह अस्वीकृति, याद करो प्रणव की बेवफाइयां,



उसकी निष्ठुरता, अलग होने के बाद के वह घोर संघर्ष के दिन.....

इस प्रकार तमाम संघर्ष के बाद भी अनु का जीवन के प्रति एक संतुलित स्वस्थ दृष्टिकोण रहता है, जबकि तमाम सुख, ऐश्वर्य और भोगविलास के बीच प्रणव कुछ हासिल नहीं करता है। अनु के माध्यम से उषाप्रियंवदा ने एक स्त्री में संघर्षशील चेतना को विकसित होते दिखाया है। पति के संबल और सान्निध्य से दूर रहकर भी स्त्रियां नयी जिन्दगी पा सकती हैं। शेष यात्रा की अनु बदलते समय और सोच को प्रतिबिंबित करती है। आज के इस दौर में तलाक शुदा और पति द्वारा उपेक्षित लड़कियां किस तरह अपना स्व ढूंढने लगी हैं, इसका सफल चित्रण उषा प्रियंवदा ने इस उपन्यास में किया है [14]।

## 9. अन्तर्वशी

उषा प्रियंवदा ने अपने उपन्यास अन्तर्वशी के माध्यम से मध्यवर्गीय भारतीय परिवारों की मानसिकता का बड़ी बारीकी से चित्रण किया है। यह मध्यम वर्ग या तो विदेशी चकाचैंध से प्रभावित होकर वहां बस जाने के सपने बुनते हैं या फिर अपनी पुत्री का विवाह विदेश में पढ़ रहे, नौकरी कर रहे लड़के से करवाकर भारतीय परिवेश से बेहतर सुख-सुविधाओं की अपेक्षा करते हैं।

उपन्यास की पात्र वाना भारतीय संस्कार के अनुरूप पतिव्रत धर्म को अपनाने वाली विदेश के

स्वच्छंद वातावरण से व्यथित हो उठती है। अपने पति शिवेश की अकर्मण्यता वाना को संवेदन शून्य बना देती है। स्त्री मन की अभिलाषाओं को वाना इन शब्दों में साकार करती है। वह सोचती है-

मन में और भी इच्छाएं हैं जो दिन पर दिन बढ़ी ही जाती है। अपना निजी घर, अपनी गाड़ी जो आये दिन धोखा ने दे, समाज में सम्मान [15]।

वाना अपने अंतर्द्वंद्वों को नया मोड़ प्रदान करती है। वह अपने मन का आक्रोश खुलकर व्यक्त नहीं कर पाती। नीता की मृत्यु के उपरान्त वाना की विक्षिप्त अवस्था तथा शिवेश का जिम्मेदारियों का बखूबी निर्वहन नहीं करने के कारण वाना की शिवेश के प्रति वितृष्णा उत्पन्न हो जाती हैं। जिस सहानुभूति व प्रेम की अपेक्षा वाना शिवेश से करती है, जब वह पूरी नहीं हो पाती तो इलाज करने वाले डॉक्टर की कामुक दृष्टि को भी शिवेश के दोष में गिना ली जाती है। इस प्रकार वाना अपने अन्तर्विरोधों को वाणी प्रदान करती है- तुम नहीं समझोगे - वह मन ही मन कहती है। मेरे जिन सपनों और आशाओं के साथ तुम मूझे ब्याह कर लाए थे वह बिना पूरे हुए ही मिटकर विलीन हो गए। अपनी भूख, अपनी लालसा के वश में एक बार भी नहीं कह पाई, मुझे यहां छुओ शिवेश, मुझे अच्छा लगेगा और दिमाग आया तक नहीं कि वाना का अपना सोच, अपना सुख हो सकता है [16]।

समग्रतः उषा प्रियंवदा के कथा साहित्य में मूलतः आधुनिक और शिक्षित नारियों के अन्तर्द्वंद्व को अभिव्यक्ति दी गयी है। नारियों की दोगम स्थिति एवं अति महत्त्वकांक्षाओं ने मनोवैज्ञानिक रूप से प्रभावित किया है।

### संदर्भ सूची

- [1] ज्योति किरण, हिन्दी उपन्यास और स्त्री जीवन, मेधा बुक्स, दिल्ली, 2004, पृ. 47।
- [2] ज्योति किरण, हिन्दी उपन्यास और स्त्री जीवन, मेधा बुक्स, दिल्ली, 2004, पृ. 48।
- [3] ज्योति किरण, हिन्दी उपन्यास और स्त्री जीवन, मेधा बुक्स, दिल्ली, 2004, पृ. 48-49।
- [4] ज्योति किरण, हिन्दी उपन्यास और स्त्री जीवन, मेधा बुक्स, दिल्ली, 2004, पृ. 53।
- [5] उषा प्रियंवदा, पचपन खंभे लाल दीवारें, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1967, पृ. 53।
- [6] ज्योति किरण, हिन्दी उपन्यास और स्त्री जीवन, मेधा बुक्स, दिल्ली, 2004, पृ. 56।
- [7] ज्योति किरण, हिन्दी उपन्यास और स्त्री जीवन, मेधा बुक्स, दिल्ली, 2004, पृ. 111।
- [8] ज्योति किरण, हिन्दी उपन्यास और स्त्री जीवन, मेधा बुक्स, दिल्ली, 2004, पृ. 54।
- [9] उषा प्रियंवदा, रुकोगी नहीं राधिका, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 26।
- [10] ज्योति किरण, हिन्दी उपन्यास और स्त्री जीवन, मेधा बुक्स, दिल्ली, 2004, पृ. 55।
- [11] उषा प्रियंवदा, शेषयात्रा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 73।
- [12] उषा प्रियंवदा, शेषयात्रा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 63।
- [13] ज्योति किरण, हिन्दी उपन्यास और स्त्री जीवन, मेधा बुक्स, दिल्ली, 2004 पृ. , 56।
- [14] ज्योति किरण, हिन्दी उपन्यास और स्त्री जीवन, मेधा बुक्स, दिल्ली, 2004, पृ.57।
- [15] उषा प्रियंवदा, अन्तर्वशी, राजकमल प्रकाशन, 2000, पृ.18।
- [16] उषा प्रियंवदा, अन्तर्वशी, राजकमल प्रकाशन, 2000, पृ.99।